



विषय-परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ षट्खंडागमके प्रथम खंड जीवस्थानका अन्तिम भाग है जिसे धवलाकारने चूलिका कहा है। पूर्वमें कहे हुए अनुयोगोंके कुछ विषम स्थलोंका जहां विशेष विवरण किया जाय उसे चूलिका कहते हैं। यहां चूलिकाके नौ अवान्तर विभाग किये गये हैं जिनका परिचय इस प्रकार है--

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका

क्षेत्र, काल और अन्तर प्ररूपणाओंमें जो जीवके क्षेत्र व कालसम्बन्धी नाना परिवर्तन बतलाये गये हैं वे विशेष कर्मबन्धके द्वारा ही उत्पन्न हो सकते हैं। वे कर्मबन्ध कौनसे हैं, उन्हींका व्यवस्थित और पूर्ण निर्देश इस चूलिकामें किया गया है। यहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण

१ सम्मत्सेषु अट्टसु अणियोगदारेसु चूलिया किमट्टमागदा ? पुववृत्ताणमट्टुणमणिओगदाराणं विसमपएस-
विवरणट्टमागदा । पु. ६, पृ. २. चूलिया णाम किं ? एक्कारसअणियोगदारेसु सूइदत्थस्स विसेसियूण परूत्रणा चूलिया ।
खुदाबंत्र अन्तिम महादंडक. उस्तातुस्तदुसस्तचिन्तनं चूलिका । गो. क. ३९८ टीका.

वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इस क्रमसे आठ प्रधान कर्मोंका स्वरूप बतलाया गया है और फिर उनकी क्रमशः पांच नौ, दो, अठ्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच प्रकृतियां बतलाई गयी हैं। नामकी ब्यालीस प्रकृतियोंके भीतर चौदह प्रकृतियां ऐसी हैं जिनकी पुनः क्रमशः चार, पांच, पांच, पांच, पांच, छह, तीन, छह, पांच, दो, पांच, आठ, चार, और दो, इस प्रकार पैंसठ उत्तरप्रकृतियां हो गई हैं; अतएव नामकर्मके कुल भेद $६५ + २८ = ९३$ हुए, जिनसे आठों कर्मोंकी समस्त उत्तरप्रकृतियां एकसौ अठ्तालीस (१४८) हुई हैं^१। इसमें ४६ सूत्र हैं जिनका विषय आध्यायणोय पूर्वकी चयनलब्धिके अन्तर्गत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके सातवें अधिकार बंधनके बन्धविधान नामक विभागान्तर्गत समुत्कीर्तना अधिकारसे लिया गया है^१।

२ स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका

प्रकृतियोंकी संख्या व स्वरूप जान लेनेके पश्चात् यह जानना आवश्यक होता है कि उनमेंसे प्रत्येक मूलकर्मकी कितनी उत्तरप्रकृतियां एक साथ बांधी जा सकती हैं और उनका बंध कौन कौनसे गुणस्थानोंमें संभव है यह विषय स्थानसमुत्कीर्तन चूलिकाम् समझाया गया है। यहां सूत्रोंमें गुणस्थाननिर्देश चौदह विभागोंमें न करके केवल संक्षेपके लिये छह विभागोंमें किया गया है—मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयनासंयत और संयत। इनमें प्रथम पांच तो गुणस्थान क्रमसे ही हैं, किन्तु अन्तिम विभाग संयतमें छठवें गुणस्थानसे लेकर ऊपरके यथासंभव सभी गुणस्थानोंका अन्तरभाव है जिनका उपपत्ति सहित विशेष स्पष्टीकरण ध्वलाकारने किया है। ज्ञानावरणकी पांचों प्रकृतियोंका एक ही स्थान है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयत तक सभी उन पांचों ही का बंध करते हैं। दर्शनावरणके तीन स्थान हैं। पहले स्थानमें मिथ्यादृष्टि और सासादन जीव हैं जो समस्त नौ ही प्रकृतियोंका बंध करते हैं। दूसरेमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि संयत तकके जीव हैं। जो निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, इन तीनको छोड़ शेष छह प्रकृतियोंको बांधते हैं। तीसरे स्थानमें वे संयत जीव हैं जो चक्षु, अचक्षु, अबधि और केवल, इन चार दर्शनावरणोंका ही बंध करते हैं। वेदनीयका एक ही बंधस्थान है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयत तक सभी जीव साता और असाता इन दोनों वेदनीयोंका बंध करते हैं। मोहनीय कर्मके दस बन्धस्थान हैं। पहले स्थानमें मिथ्यादृष्टि जीव हैं जो एक साथ बंध योग्य वाईस ही प्रकृतियोंका बंध करते हैं। यहां इस बातका ध्यान रखना

१ देखो आगे दी हुई तालिका।

२ देखो पुस्तक १, पृ. १२७, व प्रस्तावना पृ. ७३.

चाहिये कि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन दो प्रकृतियोंका तो बंध होता ही नहीं है, वे तो सम्यक्त्व उत्पन्न होते समय मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जानेसे सत्त्वमें आ जाती हैं। तथा तीन वेदों और हास्य-रति व अरति-शोक इन दो युगलोंमेंसे एक साथ एक ही का बंध सम्भव होता है। मोहनीयके दूसरे बंधस्थानमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं जो उपर्युक्त बाईसमेंसे एक नपुंसकवेदको छोड़ शेष इक्कीस प्रकृतियोंका बंध करते हैं। तीसरे स्थानमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं जो उक्त इक्कीसमेंसे चार अनन्तानुबंधी कषायों व स्त्रीवेदको छोड़ शेष सत्तरहका बंध करते हैं। चौथे स्थानमें संयतासंयत जीव हैं जो चार अप्रत्याख्यान कषायोंका भी बंध नहीं करते, केवल शेष तेरहका करते हैं। पांचवें स्थानमें वे संयत जीव हैं जो चार प्रत्याख्यान कषायोंका भी बंध नहीं करते, पर शेष नौका करते हैं। छठवे स्थानमें वे संयत जीव हैं जो मोहनीयकी अन्य प्रकृतियोंको छोड़ केवल चार संज्वलन और पुरुषवेद, इन पांचका ही बंध करते हैं। सातवे स्थानमें वे संयत जीव हैं जो पुरुषवेदको भी छोड़ केवल संज्वलन-चतुष्कको बांधते हैं आठवें स्थानमें वे संयत हैं जो क्रोध संज्वलनको छोड़ शेष तीनका ही बंध करते हैं नौवें स्थानवाले वे संयत हैं जो मान संज्वलनका भी बंध करना छोड़ देते हैं व केवल शेष दो का बंध करते हैं। दशवे स्थानमें केवल लोभ संज्वलनका बंध करनेवाले संयत हैं।

आयुक्रमकी चारों प्रकृतियोंके अलग अलग चार बंधस्थान हैं—एक नरकायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टिका; दूसरा तिर्यंचायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टिका; तीसरा मनुष्यायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि, सासादन व असंयतसम्यग्दृष्टिका; और चौथा देवायुको बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व संयतका। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी आयुको नहीं बांधना।

नामकर्मके बंधयोग्य प्रकृतियोंकी संख्याके अनुसार आठ बंधस्थान हैं जिनमें क्रमशः ३१, ३०, २९, २८, २६, २५, २३, और १ प्रकृतियोंका बंध किया जाता है। इन स्थानोंका चार गतियोंके अनुसार इस प्रकार निहाण किया गया है—नरकगति और पंचेन्द्रिय पर्याप्तका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव २८ प्रकृतियोंको बांधता है (सूत्र ६२)। तिर्यंचगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त व उद्योतका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सासादन जीव एवं तिर्यंचगति सहित विकलेन्द्रिय पर्याप्त व उद्योतका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव भिन्न प्रकारसे ३० प्रकृतियोंको बांधता है (सूत्र ६४, ६६, ६८)। तिर्यंचगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्तका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि एवं तिर्यंचगति सहित विकलेन्द्रिय पर्याप्तका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव भिन्न प्रकारसे २९ प्रकृतियोंको बांधता है (सूत्र ७०, ७२, ७४,)। तिर्यंचगति सहित एकेन्द्रिय वादर पर्याप्त और आताप

या उद्योतका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि २६ प्रकृतियोंको बांधता है (सूत्र ७६) । तिर्यचगति सहित एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर या सूक्ष्मका बंध करता हुआ, अथवा त्रस एवं अपर्याप्तका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि भिन्न प्रकारसे २५ प्रकृतियोंको बांधता है (सूत्र ७८, ८०) । तिर्यचगति सहित एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर या सूक्ष्मका बंध करता हुआ मिथ्यादृष्टि २३ प्रकृतियां बांधता है (सूत्र ८२) । मनुष्यगति सहित पंचेन्द्रिय और तीर्थंकर प्रकृतियोंको बांधता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, जीव ३० प्रकृतियोंका बंध करता है । मनुष्यगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्तको बांधता हुआ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, सासादन व मिथ्यादृष्टि भिन्न प्रकारसे २९ प्रकृतियोंको बांधता है (सू. ८७, ८९, ९१) । मनुष्यगति सहित पंचेन्द्रिय अपर्याप्तको बांधता हुआ मिथ्यादृष्टि २५ प्रकृतियोंका बंध करता है (सू. ९३) । देवगति सहित पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, आहारक और तीर्थंकर प्रकृतियोंका बंध करता हुआ अप्रमत्तसंयत या अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव ३१ प्रकृतियोंको बांधता है (सू. ९६) । वही जीव तीर्थंकर प्रकृतिको छोड़कर ३० का एवं आहारकको भी छोड़कर २९ का बंध करता है (सू. ९८, १००) । देवगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्त तीर्थंकरको बांधता हुआ असंयतसम्यग्दृष्टि या संयतासंयत जीव भी २९ प्रकृतियोंको बांधता है (सू. १०२) । देवगति सहित पंचेन्द्रिय पर्याप्तका बंध करता हुआ अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अथवा मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत व संयत जीव २८ प्रकृतियोंका बंध करता है (सू. १०४, १०६) । जब संयत जीव यशःकीर्तिका बंध करता है तब केवल इस एक नामप्रकृतिका ही बंध होता है (सू. १०८) । इस प्रकार यद्यपि एक साथ बंधनेवाली प्रकृतियोंकी संख्याकी अपेक्षा नामकर्मके आठ बंधस्थान हैं तथापि संस्थान, संहनन एवं विहायोगति आदि सात युगलोंके विकल्पोंसे बंधस्थानोंके भेद कई हजारोंपर पहुंच गये हैं (देखो सू. ८९, ९१) ।

गोत्रकर्मके केवल दो ही बंधस्थान हैं । मिथ्यादृष्टि व सासादनसम्यग्दृष्टि जीव नीच-गोत्रका और शेष उच्चगोत्रका बंध करते हैं ।

अन्तरायकर्मका केवल एक ही बंधस्थान है क्योंकि मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयत तक सभी जीव पांचों ही अन्तरायोंका बंध करते हैं ।

इस चूलिकाका विषय भी प्रथम चूलिकाके समान महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके बंधविधानके समुत्कीर्तना अधिकारसे लिया गया है । इसकी सूत्रसंख्या ११७ है ।

३. प्रथम महादंडक चूलिका

इस चूलिकामें केवल दो सूत्र हैं जिनमेंसे एकमें ऐसी प्रकृतियां बतलानेकी प्रतिज्ञा की

गई है जिन्हें प्रथमसम्यक्त्वको ग्रहण करनेवाला जीव बांधता है, और दूसरे सूत्रमें वे प्रकृतियां गिनाई गई हैं तथा यह भी प्रकट कर दिया गया है कि उनका स्वामी मनुष्य या तिर्यंच होता है। इन प्रकृतियोंकी संख्या ७३ है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त जीव आयुकर्मका बंध नहीं करता, एवं असाता व स्त्री-नपुंसकवेदादि अशुभ प्रकृतियोंको भी नहीं बांधता। ध्वलाकारने यहां अपनी व्याख्यामें सम्यक्त्वोन्मुख जीवके किस परिणामोंमें किस प्रकार विशुद्धता बढ़ती है और उससे किस प्रकार अशुभतम, अशुभतर व अशुभ प्रकृतियोंका क्रमशः बंधव्युच्छेद होता है इसका विशद निरूपण किया है (देखो पृ. १३५-१३९), और अन्तमें क्षयोपशम आदि पांच लब्धियोंके निर्देश करनेवाली गाथाको उद्धृत करके चूलिका समाप्त की है।

४. द्वितीय महादंडक चूलिका

जिस प्रकार प्रथम दंडकमें तिर्यंच और मनुष्य प्रथमसम्यक्त्वोन्मुख जीवोंके बंध योग्य प्रकृतियां बतलाई हैं, उती प्रकार इस दूसरे महादंडकमें प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख देव और प्रथमादि छह पृथिवियोंके नारकी जीवोंके बंध योग्य प्रकृतियां गिनाई गई हैं। यहां भी सूत्रोंकी संख्या केवल दो ही है।

५. तृतीय महादंडक चूलिका

इस चूलिकामें सातवीं पृथिवीके नारकी जीवोंके सम्यक्त्वाभिमुख होने पर बंध योग्य प्रकृतियोंका निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त तीनों दंडकोंका विषय भी उपर्युक्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके समुत्कीर्तना अधिकारसे लिया गया है।

६. उत्कृष्टस्थिति चूलिका

कर्मोंका स्वरूप व उनके बंध योग्य स्थानोंका ज्ञान हो जानेपर स्वभावतः यह प्रश्न उगस्थित होता है कि एक बार बांधे हुए कर्म कितने काल तक जीवके साथ रह सकते हैं, सब कर्मोंका स्थितिकाल बराबर ही है या कम बढ़ व सब जीव सब समय एक ही समान कर्मस्थिति बांधते हैं या भिन्न भिन्न, एवं बंध होते ही कर्म अपना फल दिखाने लगते हैं या कुछ काल पश्चात्? इन्हीं प्रश्नोंके उत्तर आगेकी दो अर्थात् उत्कृष्टस्थिति और जघन्यस्थिति चूलिकामें दिष्टे गये हैं। उत्कृष्टस्थिति चूलिकामें यह बतलाया गया है कि भिन्न भिन्न कर्मोंका अधिकसे अधिक बंधकाल कितना हो सकता है और कितने कालकी उनमें आबाधा हुआ

करती है अर्थात् बंध होनेके कितने समय पश्चात् उनका विपाक प्रकट होता है। इस कालनिर्देशके लिये आगे दी हुई तालिका देखिये। आबाधाका सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक कोडाकोडी सागरके बंधपर एक सौ वर्षोंकी आबाधा होती है। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय व अन्तराय कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध तीस कोडाकोडी सागरोपमोंका है तो इसी परसे जाना जा सकता है, कि उक्त कर्म बंध होनेसे तीन हजार वर्षोंके पश्चात् उदयमे आवेंगे। पर यह नियम आयुकर्मके लिये लागू नहीं होता क्योंकि वहां अधिकसे अधिक आबाधा अधिकसे अधिक भुज्यमान आयुके तृतीय भागप्रमाण ही हो सकती है (देखो सू. २९ टीका) जिन कर्मोंकी स्थिति अन्तः-कोडाकोडी सागरोपमकी है उनकी आबाधाका प्रमाण एक अन्तर्मुहुर्त माना गया है (देखो सू. ३३-३४)। इस प्रकार आबाधाकालको छोड़कर शेष समस्त कर्मस्थितिकालमें उन कर्मोंका निषेक अर्थात् उदयमें आकर गलन होता है जिसकी प्रक्रिया धवलाकारने गणितके नियमानुसार विस्तारसे समझाई है। इसमें आबाधाकाण्डक और नानागुणहानि आदि प्रक्रियायें ध्यान देने योग्य हैं (देखो सू. ६ टीका)। इस चूलिकाकी सूत्रसंख्या ४४ है जिनके विषयका संग्रह महाकर्मप्रकृतिके बंधविधानान्तर्गत स्थिति अधिकार अर्धच्छेद प्रकरणसे किया गया है।

७. जघन्यस्थिति चूलिका

जिस प्रकार उपर्युक्त उत्कृष्टस्थिति चूलिकामें कर्मोंकी अधिकसे अधिक स्थिति व आबाधा आदिका विवरण दिया गया है, उसी प्रकार जघन्यस्थिति चूलिकामें कर्मोंकी कमसे कम संभव स्थिति व आबाधा आदिका ज्ञान कराया गया है। यहां धवलाकारने आदिमें ही उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियोंके कर्मबंधोंका कारण इस प्रकार बतलाया है कि परिणामोंकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे जो कर्मबंध होता है उसमें स्थिति जघन्य पड़ती है और जितनी मात्रामें परिणामोंमें संक्लेशकी वृद्धि होती है उतनी ही कर्मस्थितिकी वृद्धि होती है। असाता बंधके योग्य परिणामको संक्लेश कहते हैं और साताबंधके योग्य परिणामको विशुद्धि। दूसरे आचार्योंने जो उत्कृष्ट स्थितिसे नीचे नीचेकी स्थितियोंको बांधनेवाले जीवके परिणामको विशुद्धि और जघन्यस्थितिसे ऊपर ऊपरकी स्थितियोंको बांधनेवाले जीवके परिणामको संक्लेश कहा है, उसे धवलाकार ठीक नहीं समझते, क्योंकि वैसा माननेपर तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंधयोग्य परिणामोंको छोड़ कर मध्यम स्थितियों सम्बन्धी समस्त परिणाम संक्लेश और विशुद्धि दोनों कहे जा सकते हैं, और लक्षणभेदके बिना एक ही परिणामको दो भिन्न रूप माननेमें विरोध

आता है। उन्होंने कषायवृद्धिको भी संक्षेपशकालक्षण मानना उचित नहीं समझा, क्योंकि, विशुद्धिकालमें भी तो कषायवृद्धि होना संभव है और उसीसे सातावेदनीय आदि कर्मोंका भुजाकार बंध होता है। ध्यान देने योग्य बात एक और यह है कि छठवें गुणस्थान तक जिस असातावेदनीय कर्मका बंध होता है उसकी जघन्य स्थिति एक सागरोपमके लगभग $\frac{1}{3}$ भागप्रमाण होती है और जो सातावेदनीय कर्म सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें बांधा जाता है उसका भी जघन्य स्थितिबंध १२ मुहूर्तसे कम नहीं होता। यद्यपि दर्शनावरणीयका बंध तीस कोड़ाकोडी सागरसे घटकर अन्तर्मुहूर्तमात्र जघन्य स्थिति पर आ जाता है, पर शुभ बंध होनेके कारण सातावेदनीय कर्मकी विशुद्धिके द्वारा भी उतनी अपवर्तना नहीं हो पाती। (देखो सू. ९ टीका)

सूत्रोंमें प्रकृति और स्थिति बंधका विचार तो खूब हुआ, पर प्रदेश और अनुभाग बंधका कहीं परिचय नहीं कराया गया? इसका समाधान ध्वलाकारने जघन्यस्थिति चूलिकाके अन्तमें किया है कि उक्त प्रकृति और स्थिति बंधकी व्यवस्थासे ही प्रदेश व अनुभाग बंध व्यवस्था निकल आती है जिसे उन्होंने वहां समझा भी दिया है। उसी प्रकार उन्होंने सत्व, उदय और उदीरणाका स्वरूप भी बंधप्ररूपणाके आधारसे समझा दिया है।

इस चूलिकामें ४३ सूत्र हैं और यह विषय उत्कृष्टस्थिति चूलिकाके समान अर्धच्छेद प्रकरणसे लिया गया है।

८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका

इस चूलिकाको इस समस्त ग्रंथका प्राण कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यहां सूत्र केवल १६ ही हैं पर उनमें संक्षेपरूपसे यह महत्वपूर्ण समस्त विषय बड़ी ही सावधानीसे सूचित कर दिया गया है। यह विषय चार अधिकारोंमें विभाजित है। पहले सात सूत्रोंमें यह बतलाया गया है कि कोई भी पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव अपने परिणामोंकी विशुद्धता बढ़ाते हुए क्रमशः समस्त कर्मोंकी स्थितिको घटाते घटाते जब अन्तःकोड़ाकोडी प्रमाणसे भी कम कर लेता है तब फिर वह एक अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्वका अवघट्टन करता है, अर्थात् उसकी अनुभामशक्तिको घटा कर उसका अन्तरकरण करता है, जिससे मिथ्यात्वको तीन भाग हो जाते हैं सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। वस, यहीं उस जीवको प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

आगेके तीन सूत्रोंमें (८-१०) समस्त दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमनके अधिकारी जीवका निर्देश किया गया है, जिसमें कहा गया है कि यह क्रिया चारों गतियोंका कोई भी पंचेन्द्रिय संज्ञी गर्भोत्पन्न पर्याप्तक जीव कर सकता है।

फिर आगे सूत्र ११ में दर्शनमोहके क्षपणका प्रारंभ करने योग्य स्थान और परिस्थितिको बतलाया है कि अढ़ाई द्वीप-समुद्रोंकी केवल उन पन्द्रह कर्मभूमियोंमें दर्शनमोहका क्षपण प्रारंभ किया जा सकता है जहां जिन भगवान् केवली व तीर्थंकर विद्यमान हों। और १२ वें सूत्रमें यह कह दिया है कि एक वार उक्त परिस्थितिमें क्षपणाकी स्थापना करके उसकी निष्ठापना अर्थात् पूर्ति चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें की जा सकती है। ऐसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाले जीवकी योग्यता सूत्र १३-१४ में बतलाई है कि जब वह क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके उन्मुख होता है तब वह आयुर्कर्मको छोड़ शेष सात कर्मोंकी स्थितिको अन्तःकोड़ाकोडी प्रमाण कर लेता है। यदि सम्यक्त्वके साथ साथ चारित्र्य अर्थात् देशचारित्र्य भी ग्रहण करता है तो भी वह जीव सातों कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोडी प्रमाण करता है। यह अन्तःकोड़ाकोडी धवलाकारके स्पष्टीकरणानुसार पूर्वसे बहुत हीन होती है।

आगे के सूत्र १५ और १६ में सकलचारित्र्य ग्रहणकी योग्यता बतलाई गयी है कि उस समय जीव चारों घातिया कर्मोंकी स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त कर लेता है, किन्तु वेदनीयकी बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त एवं शेषकी स्थिति भिन्न मुहूर्त करता है।

सूत्रकारके इस संक्षेप निर्देशको धवलाकारने इतना विस्तार दिया है और विषयको इतनी सूक्ष्मता, गम्भीरता और विशालताके साथ समझाया है जितना यह विषय और कहीं प्रकाशित साहित्यमें अब तक हमारे देखनेमें नहीं आया। लब्धिसारका विवेचन भी इसके सन्मुख बहुत स्थूल दिखने लगता है।

धवलाकारने पहले तो पांचों लब्धियोंका स्वरूप समझाया है (पृ. २७४) और फिर सम्यक्त्वके अभिमुख जीव के कितनी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, उनमें कितना कैसा अनुभाग रहता है, किन प्रकृतियोंका उदय रहता है व चारों गतियोंमें इनमें कितना क्या भेद पड़ता है, इसका खूब खुलासा किया है (पृ. २०७-२१४)। इसके पश्चात् अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंकी विशेषता समझाई है (पृ. २१५-२२२)। सूत्र ५ के आश्रयसे उन्होंने यह बात विस्तारसे बतलाई है कि उक्त परिणामोंमें विशुद्धि बढ़नेके साथ साथ कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग घात किस प्रकार व किस क्रमसे होता है (पृ. २२२-२३०)। फिर मिथ्यात्वके अवघट्टन या अन्तरकरणकी क्रिया समझाई है व उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होने तक गुणश्रेणी व गुणसंक्रमणादि कार्य बतलाये हैं, तथा पूर्वोक्त समस्त क्रियाओंके कालका अल्पबहुत्व पच्चीस पदोंके दंडक द्वारा बतलाया है (पृ. २३१-२३७)।

क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके योग्य क्षेत्र व जीवका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि जिन जीवोंका पन्द्रह कर्मभूमियोंमें ही जन्म होता है, अन्यत्र नहीं, वे ही

क्षपणाके योग्य होते हैं, और चूँकि तिर्यच उक्त कर्मभूमियोंके अतिरिक्त स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें भी उत्पन्न होते हैं, इससे तिर्यचमात्र क्षपणाके योग्य नहीं ठहरते (पृ. २४४-२४५) । यद्यपि जिस कालमें जिन, केवली व तीर्थकर हों वही काल क्षपणाकी प्रस्थापनाके योग्य होता है ऐसा कहनेसे केवल दुषमासुषमा काल ही इसके योग्य ठहरता है, पर कृष्णादिकके तीसरी पृथ्वीसे निकलकर तीर्थकरत्व प्राप्त करनेकी जो मान्यता है उसके अनुसार सुषमादुषमा कालमें भी दर्शन-मोहका क्षपण किया जा सकता है (पृ. २४६-२४७) । आगे दर्शनमोहके क्षपण करनेके आदिमें अनन्तानुबंधी विसंयोजनसे लगाकर जो स्थितिबंधापसरण, अनुभागबंधापसरण, स्थितिकांडकघात, अनुभागकांडकघात व गुणश्रेणी संक्रमण आदि कार्य होते हैं वे खूब विस्तारसे समझाये हैं (पृ. २४८-२६६) । और फिर वे ही कार्य देशचारित्र सहित सम्यक्त्व उत्पन्न करनेवालेके किस विशेषताको लेकर होते हैं यह बतलाया है (पृ. २६८-२८०) । वे ही कार्य सकलचारित्रकी प्राप्तिमें किस विशेषतासे होते हैं यह फिर आगे बतलाया है (पृ. २८१-३१७) । इससे आगे उपशांतकषायसे पतन होनेका क्रमवार विवरण दिया गया है (पृ. ३१७-३३१) और फिर पूर्वोक्त जो पुरुषवेद और क्रोधकषाय सहित श्रेणी चढ़नेका विधान कहा है उसमें अन्य कषायों व अन्य वेदोंसे चढ़नेपर क्या विशेषता उत्पन्न होती है यह बतलाया है (पृ. ३३२-३३५) । तत्पश्चात् श्रेणी चढ़नेसे उतरने तककी समस्त क्रियाओंके कालका अल्पबहुत्व कहा गया है (पृ. ३३५-३४२) ।

अब चारित्रमोहकी क्षपणाका विधान आता है जिसमें अपूर्वकरण गुणस्थानसे लेकर समय समयकी क्रियाओंका विशद और सूक्ष्म निरूपण किया गया है और क्रमशः आठ कषाय व निद्रानिद्रादिकका संक्रमण, मनःपर्ययज्ञानावरणादिकका बन्धसे देशघातिकरण, चार संज्वलन और नौ नोकषायोंका अन्तरकरण तथा नपुंसक व स्त्रीवेद तथा सात नोकषायोंका संक्रमण बतलाया गया है (पृ. ३४४-३६४) । इसके आगे अश्वकर्णकरणकालका निरूपण है जिसमें चारों कषायोंके स्पर्द्धकों और फिर उनके अपूर्वस्पर्द्धकों तथा उनकी वर्गणाओंमें अविभागप्रतिच्छेदोंका वर्णन किया गया है (पृ. ३६४-३६८) । इसके पश्चात् अश्वकर्णकरण कालके प्रथम, द्वितीय व तृतीय समयके कार्योंका अल्पबहुत्व, अनुभागसत्वकर्मका अल्पबहुत्व व अपूर्वस्पर्द्धकोंका अल्पबहुत्व देकर अश्वकर्ण-करणके अन्तर्मुहूर्तकालका विधान समाप्त किया गया है (पृ. ३६९-३७३) । यहाँ अश्वकर्णकरण-कालके अन्तमें कर्मोंके स्थितिबन्धका प्रमाण बतलाकर कृष्टिकरणकालका विधान समझाया गया है जिसमें प्रथमसमयवर्ती कृष्टियोंकी तीव्र-मंदताका अल्पबहुत्व, कृष्टियोंके अन्तरोका अल्पबहुत्व, कृष्टियोंके प्रदेशाग्रकी श्रेणीप्ररूपणा और कृष्टिकरणकालके अन्त समयमें संज्वलनादि कर्मोंके स्थितिबन्धका निरूपण खूब विशद हुआ है (पृ. ३७४-३८१) । कृष्टिकरणकालमें पूर्व और अपूर्व स्पर्द्धकोंका वेदन होता है, कृष्टियोंका नहीं । जब कृष्टिकरणकाल समाप्त हो जाता है, तब

उनके वेदनका काल प्रारंभ होता है, जिसमें कृष्टियोंके बन्ध, उदय, अपूर्वकृष्टिनिर्माण, प्रदेशाग्र-संक्रमण, एवं सूक्ष्मसाम्परायकृष्टियोंका निर्माण किया जाता है (पृ. ३८२-४०६) ।

यह जो विधान बतलाया गया है वह क्रोध कषाय व पुरुषवेदसे उपस्थित होनेवाले जीवका है । अब आगे क्रमसे मान, माया व लोभ तथा स्त्रीवेद व नपुंसकवेदसे उपस्थित हुए क्षपककी विशेषताएं बतलाई गई हैं (पृ. ४०७-४१०) । यह सब सूक्ष्मसाम्पराय तकका कार्य हुआ जिसके अन्तमें कर्मोंके स्थितिबंधका प्रमाण बतलाकर आगे क्षीणकषाय गुणस्थानमें होनेवाले घातिया कर्मोंकी उदीरण, निद्रा-प्रचलाके उदय और सत्वका व्युच्छेद तथा अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके सत्व व उदयके व्युच्छेदका निर्देश करके सयोगकेवलो गुणस्थान प्राप्त कराया गया है (पृ. ४१०-४१२) ।

सयोगी जिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए एवं असंख्यातगुणश्रेणी द्वारा प्रदेशाग्रनिर्जर करते हुए विहार करते हैं व आयुके अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर वे केवलिसमुद्धात करते हैं जिसकी दंड, कपाट, मंथ (प्रतर) लोकपूरण क्रियाओंमें होनेवाले कार्य बतलाये गये हैं (४१२-४१४) । इसके पश्चात् मन, वचन और काय योगोंके निरोधका विधान है । सूक्ष्मकायका निरोध करते समय अन्तर्मुहूर्त तक अपूर्वस्पर्द्धककरण और फिर अन्तर्मुहूर्त तक कृष्टिकरण क्रियायें भी होती हैं जिनके अन्तमें योगका पूर्णतः निरोध हो जाता है और सर्व कर्मोंकी स्थिति शेष आयुके बराबर हो जाती है । बस, यहीं जीव अयोगी हो जाता है जहां सर्व कर्माश्रवका निरोध, शैलेशी वृत्ति एवं समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान होता है । इस अन्तर्मुहूर्तके द्विचरम समयमें ७३ और अन्तिम समयमें शेष १२ प्रकृतियोंकी सत्ताका विनाश हो जानेसे जीव सर्व कर्मसे वियुक्त होकर सिद्ध हो जाता है ।

सूत्रकारने यह विषय दृष्टिवादके पांच अंगोंमेंसे द्वितीय अंग सूत्रपरसे संग्रह किया है (पुस्तक १, पृ. १३०, व प्रस्तावना पृ. ७४) । धवलाकारने उसका जो विस्तार किया है उसके आधारका यद्यपि उन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया, पर मिलानसे निश्चयतः ज्ञात होता है कि उन्होंने वह कषायप्राभूतके चूर्णसूत्रोंसे लिया है । यथार्थतः बहुतायतसे उन्होंने उक्त चूर्णसूत्रोंको ही जैसाका तैसा उद्धृत किया है जैसा कि प्रस्तुत चूलिकामें जमह जमह दी हुई टिप्पणियोंपरसे ज्ञात हो सकेगा ।

९ गत्यागति चूलिका

इस चूलिकाके चार विभाग किये जा सकते हैं । पहले ४३ सूत्रोंमें भिन्न भिन्न नारकी तिर्यंच, मनुष्य व देव जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जातिस्मरण व वेदमा इन चारमेंसे किन किन

कारणों द्वारा व कव सम्प्रवृत्तकी प्राप्ति करते हैं इसका प्ररूपण किया है । आगे सूत्र ४४ से ७५ तक उक्त चारों गतियोंमें प्रवेश करने और वहांसे निकलनेके समय जीवके कौन कौन गुणस्थान होना संभव है इसका निर्देश किया गया है । सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया गया है कि उक्त गतियोंमें भिन्न भिन्न गुणस्थानों सहित निकलकर जीव कौन कौनसी गतियोंमें जा सकता है । फिर सूत्र २०३ से अन्तिम सूत्र २४३ तक यह बतलाया गया है कि उक्त चार गतियोंके जीव उस उस गतिसे निकलकर जिस अन्य गतिमें जावेंगे वहां वे कौन कौनसे गुण प्राप्त कर सकते हैं । ये चारों विषय आगे चार पृथक् तालिकाओंमें स्पष्ट कर दिये गये हैं अतएव उनके विषयमें यहां विशेष कइनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यह गत्यागतिका विषय सूत्रकारने दृष्टिवादके पांच अंगोंमें प्रथम अंग परिकर्मके चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि पांच भेदोंमेंके अन्तिम भेद विहायपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) से ग्रहण किया है ।
(पुस्तक १ पृ. १३०)

